॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

अद्वयतारक उपनिषद्

विषय सूची

॥अथ अद्वयतारक उपनिषद्॥ 3

॥ अद्वयतारक उपनिषद् ॥ 4

शान्तिपाठ 15

॥ श्री हरि ॥

॥अथ अद्वयतारक उपनिषद्॥

॥ हरिः ॐ ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह परब्रह्म पूर्ण है और वह जगत ब्रह्म भी पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। यह कार्यात्मक पूर्ण कारणात्मक पूर्ण से ही उत्पन्न होता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

॥ श्री हरि ॥

॥ अद्वयतारक उपनिषद् ॥

अथातोऽद्वयतारकोपनिषदं व्याख्यास्यामः ।
यतये जितेन्द्रियाय शमादिषड्गुणपूर्णाय ॥ १॥

अब अद्वयतारकोपनिषद् की व्याख्या योगियों, संन्यासियों, जितेन्द्रियों तथा शम,दम आदि षड्गुणों से पूर्ण साधकों के लिए करते हैं॥१॥

चित्स्वरूपोऽहमिति सदा भवयन् सम्यङ्निमीलिताक्षः
किञ्चिदुन्मीलिताक्षो वाऽन्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि
सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं परं ब्रह्मावलोकयन् तद्रूपो
भवति ॥ २॥

वह नेत्रों को बन्द अथवा अधखुले रखकर अन्तःदृष्टि से भृकुटी के ऊर्ध्व स्थल में 'मैं चित् स्वरूप हूँ।' इस प्रकार का भाव चिन्तन करते हुए सच्चिदानन्द के तेज से युक्त कूटरूप (निश्चल) ब्रह्म का दर्शन करता हुआ ब्रह्ममय ही हो जाता है॥२॥

अद्वयतारकपदार्थौ

गर्भजन्मजरामरणभयात्संतारयति तस्मात्तारकमिति ।
जीवेश्वरौ मायिकाविति विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति
विहाय यदवशिष्यते ततद्वयं ब्रह्म ॥ ३॥

जो (तेजोमय परब्रह्म) गर्भ, जन्म, जरा, मरण एवं संहार आदि पापों से तारता है अर्थात् मुक्ति दिला देता है, उसे 'तारक' ब्रह्म कहा गया है। जीव एवं ईश्वर को मायिक (माया से आवृत्) जानते हुए अन्य सभी को 'नेति-नेति' कहते हुए छोड़कर जो कुछ शेष बचा रहता है, वही 'अद्वय ब्रह्म' कहा गया है॥३॥

लक्ष्यत्रयानुसन्धानविधिः

तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसंधानं कर्तव्यं ॥ ४॥

उस (तेजोमय परब्रह्म) की सिद्धि के लिए तीन लक्ष्यों का अनुसंधान ही करणीय कर्तव्य है॥४॥

अन्तर्लक्ष्यलक्षणम्

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते । सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति । तन्मध्ये तटित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत् सुक्ष्माङ्गी कुण्दलिनीति प्रसिद्धाऽस्ति । तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति । फालोर्ध्वगललाटविशेषमण्डले निरन्तरं जस्तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत् सिद्धो भवति । तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये तत्र फूत्कारशब्दो जायते । तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिस्स्थलं विलोक्य अन्तर्दृष्ट्या निरतिशयसुखं प्राप्नोति । एवं हृदये पश्यति । एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं मुमुक्षुभिरुपास्यं ॥ ५॥

(उस योगी के) शरीर के बीच में 'सुषुम्ना' नामक ब्रह्मनाड़ी पूर्ण चन्द्रमा की भाँति प्रकाशयुक्त है। वह मूलाधार से शुरू होकर ब्रह्मरन्ध्र तक विद्यमान है। इस नाड़ी के बीच में कोटि-कोटि विद्युत् के सदृश तेजोमयी मृणालसूत्र की तरह सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति प्रख्यात है। उस शक्ति का मन के द्वारा दर्शन करने मात्र से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। मस्तिष्क के ऊपर विशेष मण्डल में निरन्तर विद्यमान तेज (प्रकाश) को तारक-ब्रह्म के योग से जो देखता है, वह सिद्ध हो जाता है। दोनों कानों के छिद्रों को तर्जनी अँगुलियों के अग्रभाग से बन्द कर लेने पर 'फूत्कार' (सर्प के फुफकार की तरह) का शब्द सुनाई पड़ता है। उसमें मन को केन्द्रित करके नेत्रों के मध्य नीली ज्योति को आन्तरिक दृष्टि से देखने पर अत्यधिक आनन्दानुभूति होती है। ऐसा ही दर्शन हृदय में भी किया जाता है। इस प्रकार के अन्तर्लक्ष्य (अन्त:करण में देखे जाने योग्य) लक्षणों का अभ्यास मुमुक्षु (मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले साधक) को करना चाहिए॥५॥

बहिर्लक्ष्यलक्षणम्

अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणं । नासिकाग्रे चतुर्भिः
षड्भिरष्टभिः दशभिः द्वादशभिः क्रमात् अङ्गुलालन्ते
नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं
व्योम यदि पश्यति स तु योगी भवति । चलदृष्ट्या
व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तते । तद्दर्शनेन
योगी भवति । तप्तकाञ्चनसङ्काशज्योतिर्मयूखा अपाङ्गान्ते भूमौ वा

पश्यति तद्दृष्टिः स्थिरा भवति । शिर्षोपरि द्वादशाङ्गुलसमीक्षितुः अमृतत्वं भवति । यत्र कुत्र स्थितस्य शिरसि व्योमज्योतिर्दृष्टंत् स तु योगी भवति ॥ ६॥

अब 'बाह्यलक्ष्य' के लक्षणों का वर्णन करते हैं। नासिका के अग्रभाग से क्रमशः चार, छः, आठ, दस या बारह अंगुल की दूरी पर नील एवं श्याम रंग जैसा, रक्ताभ वर्ण का आकाश, जो पीत शुक्लवर्ण से युक्त होता है; उस आकाश तत्त्व को जो निरन्तर देखता रहता है, वही वास्तव में सच्चा योगी कहलाता है। उस चलायमान दृष्टि से आकाश (रिक्त स्थान) में देखने पर वे ज्योति किरणें स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं, उन दिव्य किरणों को देखने वाला ही योगी होता है। जब दोनों चक्षुओं के कोने में तप्त सुवर्ण की भाँति ज्योति मयूख (किरण) का – दर्शन होता है, तो फिर उसकी दृष्टि एकाग्र हो जाती है। मस्तिष्क के ऊर्ध्व में लगभग १२ अंगुल की दूरी पर ज्योति का दर्शन करने वाला योगी अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य चाहे जिस स्थल पर स्थित सिर के ऊर्ध्व में आकाश ज्योति का दर्शन करता है, वही (पूर्ण) योगी कहलाता है॥६॥

मध्यलक्ष्यलक्षणम्

अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं
प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवत् वह्निज्वालावलीवत्
तद्विहीनान्तरिक्षवत् पश्यति । तदाकाराकारितया अवतिष्ठति ।
तद्भूयोदर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति ।
विस्फुरत्तारकाकारदीप्यमानगाढतमोपमं परमाकाशं
भवति । कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति ।

सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति ।
कोटिसूर्यप्रकाशवैभवसङ्काशं सूर्याकशं भवति ।
एवं बाह्याभ्यन्तरस्थव्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यं । तद्दर्शी
विमुक्तफलस्तादृग्व्योमसमानो भवति । तस्मात्तारक एव
लक्ष्यममनस्कफलप्रदं भवति ॥ ७॥

इसके अनन्तर अब 'मध्यलक्ष्य' के लक्षण का वर्णन करते हैं। जो प्रातः काल के समय में चित्रादि वर्ण से युक्त अखण्ड सूर्य का चक्रवत्, अग्नि की ज्वाला की भाँति तथा उनसे विहीन अन्तरिक्ष के समान देखता है। उस आकार के सदृश होकर प्रतिष्ठित रहता है। पुनः उसके दर्शन मात्र से वह गुणरहित 'आकाश' रूप हो जाता है। विस्फुरित (प्रकाशित) होने वाले तारागणों से प्रकाशमान एवं प्रात:काल के अंधेरे की भाँति 'परमाकाश' होता है।'महाकाश' कालाग्नि के समान प्रकाशमान होता है। 'तत्त्वाकाश' सर्वोत्कृष्ट प्रकाश एवं प्रखर ज्योतिसम्पन्न होता है। सूर्याकाश' करोड़ों सूर्यों के सदृश होता है। इस तरह बाह्य एवं अन्त: में प्रतिष्ठित ये 'पाँच आकाश' तारक-ब्रह्म के ही लक्ष्य हैं। इस क्रिया विधि द्वारा आकाश का दर्शन करने वाला उसी की भाँति समस्त बन्धनों को काटकर मुक्ति-प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है। तारक का लक्ष्य ही अमनस्क फल-प्रदाता कहा गया है॥७॥

द्विविधं तारकम्

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धं तारकमुत्तरार्धममनस्कं
चेति । तदेष श्लोको भवेति -तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यात् अमनस्कं तदुत्तरमिति ॥ ८॥

इस तारक योग की दो विधियाँ बतलाई गई हैं। जिसमें प्रथम पूर्वार्द्ध है और द्वितीय उत्तरार्द्ध। इस सन्दर्भ में यह शेक द्रष्टव्य है-'यह योग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो प्रकार का होता है। पूर्व को 'तारक' एवं उत्तर को 'अमनस्क' (मनः शून्य होना) कहा गया है॥८॥

तारकयोगसिद्धिः

तारकयोगस्य सोमसूर्यैक्यदर्शनैकफलकत्वं ।
अक्ष्यन्तस्तारयोः चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं भवति ।
तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डलदर्शनं ब्रह्माण्डमिव
पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितयमस्तीति
निश्चित्य तारकाभ्यां तद्दर्शनं । अत्राप्युभयैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं
ध्यायेत् तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेरनवकाशात् ।
तस्मातन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः ॥ ९॥

हम आँखों के तारक (पुतलियों) से सूर्य एवं चन्द्र का दर्शन (प्रतिफलन) करते हैं। जिस तरह से हम आँखों के तारकों से ब्रह्म-ब्रह्माण्ड के सूर्य एवं चन्द्र को देखते हैं, वैसे ही अपने सिर रूपी ब्रह्माण्ड के मध्य में विद्यमान सूर्य एवं चन्द्र का निर्धारण करके उनका हमेशा दर्शन करना चाहिए तथा दोनों को एक ही रूप जान करके मन को एकाग्र कर उनका चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि यदि मन को इस भाव से ओत-प्रोत न किया जायेगा, तो समस्त इन्द्रियाँ विषयों

में प्रवृत्त होने लगेंगी। इस कारण योगी-साधक को अपनी अन्तः की दृष्टि से 'तारक' का निरन्तर अनुसंधान करते रहना चाहिए॥९॥

मूर्तामूर्तभेदेन द्विविधमनुसन्धेयम्

तारकं द्विविधं मूर्तितारकं अमूर्तितारकं चेति ।
यतिन्द्रियान्तं तत् मूर्तिमत् । यत् भ्रूयुगातीतं तत् अमूर्तिमत् ।
सर्वत्र अन्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्यास इष्यते ।
तारकाभ्यं तदूर्ध्वस्थसत्त्वदर्शनात् मनोयुक्तेन अन्तरीक्षणेन
सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव । तस्मात् शुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति
सिद्धं । तद्ब्रह्म मनःसहकारिचक्षुषा अन्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति ।
एवममूर्तितारकमपि । मनोयुक्तेन चक्षुषैव दहरादिकं
वेद्यं भवति रूपग्रहणप्रयोचनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वात्
बाह्यवदान्तरेऽपि आत्ममनश्चक्षुःसंयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात् ।
तस्मान्मनोयुक्ता अन्तर्दृष्टिः तारकप्रकाशाय भवति ॥ १०॥

इस 'तारक' की दो विधियाँ कही गई हैं, जिसमें प्रथम मूर्त (मूर्ति)एवं द्वितीय अमूर्त (अमूर्ति) है। जो इन्द्रियों के अन्त (अर्थात् मनश्चक्षु) में है, वह मूर्त तारक है तथा जो दोनों भृकुटियों से बाहर है, वह अमूर्त है। आन्तरिक पदार्थों के विवेचन में सर्वत्र मन को एकाग्र करके अभ्यास करते रहना चाहिए। सात्त्विक-दर्शन से युक्त मन द्वारा अपने अन्त:करण में सतत निरीक्षण करने से दोनों तारकों के ऊर्ध्व भाग में सच्चिदानन्दमय ज्योतिरूप परब्रह्म का दर्शन होता है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म शुक्ल-शुभ्र तेज स्वरूप है। उस ब्रह्म को मनसहित नेत्रों की अन्त:दृष्टि से देखकर जानना चाहिए। अमूर्त तारक भी इसी विधि से मन: संयुक्त नेत्रों से ज्ञात हो जाता है। रूप दर्शन के सम्बन्ध

में मन नेत्रों के आश्रित रहता है और बाहर के सदृश अन्त: में भी रूप ग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस कारण मन के सहित नेत्रों के द्वारा ही 'तारक' का प्रकाश होता है॥१०॥

तारकयोगस्वरूपं

भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टिं तद्द्वारा ऊर्ध्वस्थिततेज आविर्भूतं तारकयोगो भवति । तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन भ्रूयुग्मं सावधानतया किञ्चिदूर्ध्वमुत्क्षेपयेत् । इति पूर्वतारकयोगः । उत्तरं तु अमूर्तिमतमनस्कमित्युच्यते । तालुमूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिर्मयूखो वर्तते । तत् योगिभिर्ध्येयं। तस्मातणिमादिसिद्धिर्भवति ॥ ११॥

जो मनुष्य अपनी आन्तरिक दृष्टि के द्वारा दोनों भृकुटियों के स्थल से थोड़ा सा ऊपरी भाग में स्थित तेजोमय प्रकाश का दर्शन करता है, वही तारक योगी होता है। उसके साथ मन के द्वारा तारक की सुसंयोजना करते हुए प्रयत्नपूर्वक दोनों भौंहों को कुछ थोड़ा सा ऊँचाई पर स्थिर करे। यही तारक का पूर्वार्द्ध योग कहलाता है। द्वितीय उत्तरार्द्ध भाग को अमूर्त कहा गया है। तालु-मूल के ऊर्ध्व भाग में महान ज्योति किरण मण्डल स्थित है। उसी का ध्यान योगियों का ध्येय (लक्ष्य) होता है। उसी से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं॥११॥

शाम्भवीमुद्रा

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यं

सांभवी मुद्रा भवति । तन्मुद्रारूढज्ञानिनिवासात् भूमिः
पवित्रा भवति । तद्दृष्ट्या सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति ।
तादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति ॥ १२॥

योगी-साधक की अन्तः एवं बाह्य लक्ष्य को देखने की सामर्थ्य वाली दृष्टि जब स्थिर हो जाती है, तब वह स्थिति ही शांभवी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा से ओत-प्रोत ज्ञानी पुरुष का निवास स्थल अत्यन्त पवित्र माना जाता है तथा सभी लोक उसकी दृष्टि-मात्र से पवित्र हो जाते हैं। जो भी इस परम योगी की पूजा करता है, वह उसको प्राप्त करते हुए मुक्ति का अधिकारी हो जाता है॥१२॥

अन्तर्लक्ष्यविकल्पाः

अन्तर्लक्ष्यज्वलज्ज्योतिःस्वरूपं भवति । परमगुरूपदेशेन
सहस्रारज्वलज्ज्योतिर्वा बुद्धिगुहानिहितचिज्ज्योतिर्वा
षोडशान्तस्थतुरीयचैतन्यं वा अन्तर्लक्ष्यं भवति ।
तद्दर्शनं सदाचार्यमूलं ॥ १३॥

अन्तर्लक्ष्य उज्वल शुभ्र ज्योति के रूप में हो जाता है। परम सद्गुरु का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सहस्र दल कमल में स्थित उज्वल-ज्योति अथवा बुद्धि-गुहा में स्थित रहने वाली ज्योति अथवा फिर वह सोलह कला के अन्त: में विद्यमान तुरीय चैतन्य स्वरूप अन्तर्लक्ष्य होता है। यही दर्शन सदाचार का मूल है॥१३॥

आचार्यलक्षणम्

आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ॥ १४॥

गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः ।
एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ १५॥

वेदज्ञान से सम्पन्न, आचार्य (श्रेष्ठ आचरण वाला), विष्णुभक्त, मत्सर आदि विकारों से रहित, योग का ज्ञाता, योग के प्रति निष्ठा रखने वाला, योगात्मा, पवित्रता युक्त, गुरुभक्त, परमात्मा की प्राप्ति में विशेष रूप से संलग्न रहने वाला- इन उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न पुरुष ही गुरु रूप में अभिहित किया जाता है॥१४-१५॥

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥ १६॥

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः ।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणं ॥ १७॥

गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनं ।
यस्मात्तदुपदेष्टाऽसौ तस्माद्गुरुतरो गुरुरिति ॥ १८॥

गु' अक्षर का अर्थ है-अन्धकार एवं 'रु' अक्षर का अर्थ है-अन्धकार को रोकने में समर्थ । अन्धकार (अज्ञान) को दूर करने वाला ही गुरु कहलाता है॥१६॥

गुरु ही परम ब्रह्म परमात्मा है, गुरु ही परम (श्रेष्ठ) गति है, गुरु ही पराविद्या है और गुरु ही परायण (उत्तम आश्रय) है॥१७॥

गुरु ही पराकाष्ठा है, गुरु ही परम (श्रेष्ठ) धन है। जो श्रेष्ठ उपदेश करता है, वही गुरु से गुरुतर अर्थात् श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम गुरु है, ऐसा जानना चाहिए॥१८॥

कामाकामधियां

पठनफलं सर्वकामाप्तिः परमपुरुषार्थाप्तिश्च ।
इत्युपनिषच्छब्दः अद्वयतारकोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १९॥

जो मनुष्य एक बार (गुरु या इस उपनिषद् का) उच्चारण (पाठ) करता है, उसकी संसार-सागर से निवृत्ति हो जाती है। समस्त जन्मों के पाप तत्क्षण ही विनष्ट हो जाते हैं। समस्त इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति हो जाती है। सभी पुरुषार्थ सफल-सिद्ध हो जाते हैं। जो ऐसा जानता है, वही उपनिषद् का यथार्थ ज्ञानी है, यही उपनिषद् है॥१९॥

॥ हरि ॐ ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह परब्रह्म पूर्ण है और वह जगत ब्रह्म भी पूर्ण है, पूर्णता से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। यह कार्यात्मक पूर्ण कारणात्मक पूर्ण से ही उत्पन्न होता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हमारे, अधिभौतिक, अधिदैविक तथा तथा आध्यात्मिक तापों (दुखों) की शांति हो।

॥ इति अद्वयतारकोपनिषत्॥

॥ अद्वयतारक उपनिषद समात ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥